दलित आत्मकथाओं का वैशिष्ट्य

*डॉ. राजेश पासवान

शोधपत्र-हिन्दी

दलित आत्मकथाओं के वैशिष्ट्य पर विचार के प्रसंग में अक्सर यह सवाल उठता है कि आखिर इन आत्मकथाओं को दलित आत्मकथा क्यों कहा जाय? ये किसी व्यक्ति–विशेष द्वारा लिखी गई है, अतः इन्हें किसी व्यक्ति विशेष की आत्मकथा न कहकर किसी समाज की कथा क्यों कहा जाय? दलित आत्मकथाओं से पहले भी हिन्दी एवं अन्य भाषाओं में भी आत्मकथाएँ लिखी गई हैं वे सब व्यक्ति–विशेष की आत्मकथा कही जाती है, न कि जाति विशेष की, फिर दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं को दलित आत्मकथा' क्यों कहा जाय इस संदर्भ में कई ऐसे कारण है जो हमें दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं को दलित आत्मकथा' मानने एवं अन्य आत्मकथाओं से दलित आत्मकथाओं को विशिष्ट बनाने का काम करते है।

हाशिए की अभिव्यक्ति–सामाजिक वर्णानुक्रम में भी दलित लगभग अलग–थलग पड़े रहे है। हिन्दू समाज–व्यवस्था में दलित चारों वर्णों से अलग, अछूत अंत्यज बनकर हाशिए पर जीवन जीते रहे हैं। जबकि गैर दलितों को इस समाज व्यवस्था में जन्म से एक स्थान, एक स्तर मिला हुआ है। गैर दलित जन्म से ही कुछ अतिरिक्त सम्मान एवं प्रतिष्ठा के भागीदार हो जाते हैं। जबकि दलितों को इसके उलटे, जन्म से ही एक खास तरह की उपेक्षा, अपमान का सामना करना पड़ता है। जो गैर दलितों को अपवाद स्वरूप नसीब होता है। यह सामाजिक स्थिति दलितों को गैर दलितों से अलग करती है। फलतः उनकी आत्मकथाएँ भी गैर दलितों से अलग संवदेनाओं को अभिव्यक्त करती है।

दलित समाज की भी कथा–हिन्दी या अन्य भाषाओं में गैर दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएँ उस व्यक्ति विशेष की कथा होती है। आत्मकथाकार ने अपने व्यक्तिगत जीवन में जो अनुभव किया है, जिन लोगों एवं परिस्थितियों से उसका साबका पड़ा है, वह सब उसकी आत्मकथा में मुखरित होता है। वह अनुभव उसका नितान्त व्यक्तिगत होता है। यह जरूरी नहीं कि उस लेखक ने जो अनुभव किया है, वह उसी की जाति या परिवेश के अन्य लोगों ने भी अनुभव किया हो। जैसे 'अपनी खबर' में पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने अपने 20 वर्ष तक की जिन घटनाओं का उल्लेख किया है वह जरूरी नहीं कि उन्हीं की जाति या समुदाय के अन्य लोगों ने भी वैसा ही अनुभव किया हो। अगर ऐसा होगा भी तो अपवादस्वरूप ही जबकि दलित आत्मकथाओं में ऐसी स्थिति नहीं है। दलित आत्मकथाएँ आत्मकथाकार के साथ–साथ दलित समाज की भी कथा होती है। इन आत्मकथाओं में लेखक के व्यक्तिगत जीवन संघर्ष के साथ–साथ उसका समाज भी चित्रित होता है। भले ही आत्मकथाकार की कोई विशेष जाति होती है लेकिन उसकी सामाजिक स्थिति लगभग समान होती है। उन्हें लगभग एक जैसी सामाजिक उपेक्षा का सामना करना पड़ता है। जैसे वाल्मीकि जाति के ओमप्रकाश वाल्मीकि हो या जाटव जाति के मोहनदास नैमिशराय, महार जाति के दयापवार हो या कैकाड़ी जाति के लक्ष्मण मानें। इन सबकों एक जैसी सामाजिक उपेक्षा का सामना करना पड़ा है। इसलिए यह अकारण नहीं है कि इनकी आत्मकथाओं की संवेदना में समानता दिखती है। यह सब इनकी एक जैसी सामाजक स्थिति होने की वजह से संभव होता है।चाहे महाराष्ट्र के दलित हों या हिन्दी प्रदेश के, सभी ब्राह्मणवाद के शोषण के शिकार हैं। अतः उनका आत्मसंघर्ष व्यक्तिगत न होकर सामाजिक हो जाता है। वस्तुतः दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त संघर्ष भी एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से नहीं, बल्कि एक समाज का दूसरे समाज से है। इसीलिए ये आत्मकथाएँ समाजिक संघर्ष की अभिव्यक्ति प्रतीत होती है।

उद्देश्य यशोवृद्धि नहीं–आत्मकथा लेखन के अन्य उद्देश्यों में एक उद्देश्य यह भी है कि इसमें आत्मकथाकार की यशोवृद्धि की आकांक्षा, अन्तर्निहित होती है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लेखक की यह मंशा अवश्य रहती है कि इससे उसकी प्रतिष्ठा, सम्मान आदि में बढ़ोतरी होगी। उसके अनुभवों को, उसकी उपलब्धियों को लोग तबज्जो देंगें। उसके कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर लोग गर्व करेंगे। इसलिए अधिकांश आत्मकथाओं

*अध्यक्ष, हिन्दी विभाग एन.आर.ई.सी. कॉलेज, खुरजा

में ऐसा देखा गया है कि लेखक अपने जीवन के कतिपय आदर्श अंशों को ही लिखता है। जीवन के कलुषित एवं असंगत अंशों को प्रकट करने से वह बचना चाहता है। जो उसकी प्रतिष्ठा उसके सामाजिक सम्मान को धक्का पहुँचा सकती है। यह प्रवृत्ति आत्मकथा की प्रमाणिकता के लिए, उसकी स्वाभाविकता के लिए संदेह पैदा कर सकती है। संभवतः पहली बार दलित आत्मकथाओं ने यशोवृद्धि की इस आदर्श मानसिकता को तोड़ने का साहस किया है। दलित लेखकों ने अपने जीवन के कलुषित लेकिन सच्चे अनुभवों को व्यक्त किया है। इस अभिव्यक्ति में उन्हें यशोवृद्धि तो दूर कई बार अपमान जनक अनुभवों को फिर से जीने का जोखिम उठाना पड़ा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में – ''इन अनुभवों को लिखने में कई प्रकार के खतरे थे। एक लम्बी जद्दोजहद के बाद, मैंने सिलसिलेवार लिखना शुरु किया। तमाम कष्टों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा। उस दौरान गहरी मानसिकता यंत्रणाएँ मैंने भोगी। स्वंय को परत–दर–परत उघेड़ते हुए कई बार लगा– कितना दुखदायी है यह सब। कुछ लोगों को यह सब अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है। कई मित्र हैरान थे, अभी से आत्मकथा लिख रहे हो। एक मित्र की यह भी सलाह थी कि मैं आत्मकथा लिखकर अपने अनुभवों का मूलधन खा रहा हूँ। कुछ का यह भी कहना था कि खुद को नंगा करके आप अपने समाज की हीनता को ही बढ़ाएँगे। एक बेहद आत्मीय मित्र को भय सता रहा है– उन्होंने लिखा– आत्मकथा लिखकर आप अपनी प्रतिष्ठा ही न खो दें।''[1] कुछ इसी तरह की वेदना *'अक्करमाशी'* के लेखक शरणकुमार लिंबाले की भी है। वे लिखते हैं– मुझे लगता रहा कि मैंने बेकार मे ही आत्मकथा लिख डाली। अपने किसी निकटस्थ मित्र को 'अक्करमाशी' पढ़ाने की मेरी इच्छा ही नहीं होती, छटपटाहट होती है। किसी रंडी का मैं बेटा हूँ, इसे वह जान गया तो? भोगी हुई दरिद्रता, जाति, सुअर का मांस, यह सब अगर वह पढ़ गया तो? ऐसे प्रश्न मुझे सताने लगते हैं।''[2] दलित आत्मकथाएँ न तो शोहरत की इच्छा से अनुप्रेरित है, न इनका काम कुछ दिलचस्प वाकयों का बयान करना है, न पैसा और मनोरंजन के लिए है, न ही शाब्दिक कलाबाजी दिखाते हुए अमर होने के लिए। इनका उद्देश्य इन सबसे अलग – भारतीय जीवन–जगत की सच्चाई को, हिन्दू–व्यवस्था की सडाँध को तथा उसके जहरीले नुकीले पंजों को बेनकाब करना है।

साहित्य की श्रेणियों एवं विभागों की समाप्ति

इसने साहित्य की श्रेणियों अथवा विभागों को समाप्त कर दिया है। ''पूर्ववर्ती साहित्य में स्थित सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक के जो लेबल्स साहित्य के अलगाव के लिए अथवा स्वतंत्र अस्तित्व के लिए लगाए जाते थे वे दलित साहित्य निर्मिति के कारण समाप्त हो गए है। दलित साहित्य में समस्या मात्र साहित्यिक नहीं होती है। बल्कि साहित्यिक होने के साथ–साथ वह सामाजिक और राजनैतिक भी होती है। जब वह साहित्यिक रूप से सामने आती है तब वह अपने अन्य आयामों सहित उपस्थित होती है।''[3] परांजये जी की यह मान्यता दलित आत्मकथाओं के सन्दर्भ में भी शत–प्रतिशत, सही लगती है। दलित आत्मकथाओं ने इन श्रेणियों अथवा विभागों को तोड़ा है। उनका मूल्यांकन सिर्फ साहित्यिकता के आधार पर नहीं किया जा सकता। अगर ऐसा होता है तो वह एकांगी अध्ययन ही होगा। क्योंकि ये आत्मकथाएँ सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आर्थिक संवदेनाओं एवं उनसे जुड़े सवालों को भी उठाती है। सदियों से शिक्षा से वंचित किए जाने एवं वर्तमान में सवर्ण वर्चस्व वाली व्यवस्था तंत्र द्वारा शिक्षा प्राप्ति में बाधक स्थितियाँ पैदा करने के लिए जहाँ ये आत्मकथाएँ ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था को कटघरे में खड़ा करती है, वहीं काम करने की इच्छा के बावजूद काम न मिलने (उठाईगीर) एवं बेगारी तथा उचित मज़दूरी न मिलने के प्रश्नों को उठाकर आर्थिक समस्याओं से भी दो–चार होती है।[4] महाराष्ट्र में कांग्रेस–रिपब्लिकन की साँठ–गाँठ के परिणाम को 'स्लो–प्वाइजनिंग' (अछूत)[5] के रूप में देखते हुए जहाँ दलित–आन्दोलन एवं दलित राजनीति पर पुनर्विचार की संभावना व्यक्त करती है, वहीं सवर्ण लड़की से विवाह करने वाले लक्ष्मण माने (पराया)[6] पर विरादरी के दबाव एवं बंदिशों के उल्लेख से दलितों में होने वाले सामाजिक आंदोलनों की असफलता के कारणों की भी पहचान करती है। इन सारी संवदेनाओं को व्यक्त करने वाली आत्मकथाओं का मूल्यांकन सिर्फ साहित्यिक आधार पर नहीं किया जा सकता। बल्कि पूरे राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संदर्भो के साथ ही इनका मूल्यांकन हो सकता है।

बहुआयामी संघर्षों के दस्तावेज

दलित आत्मकथाएँ दलित समाज के बहुआयामी संघर्ष की दस्तावेज है। किसी दलित को अपनी अस्मिता के साथ समाज में एक जगह बनाने के लिए सामान्यतः जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, ये आत्मकथाएँ उन सबका बयान करती है। यही वजह है कि दलितों को ये आत्मकथाएँ कुछ अपनी सी लगती है। लगता है मानों इन आत्मकथाकारों का जीवनसंघर्ष सिर्फ उनका नहीं, बल्कि पाठक का भी है! दलित लेखकों का संघर्ष बहुआयामी है क्योंकि इन्हें जन्म से ही एक प्रतिकूल सामाजिक स्थिति प्राप्त हुई हैं। सभी दलित आत्मकथाकारों में कोई ऐसा नहीं है जिसको जन्म से ही शिक्षित, सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित परिवेश मिला हो। सबको शिक्षा के लिए, सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए, जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भयंकर संघर्ष करना पड़ा है। विभिन्न आत्मकथाओं के

माध्यम से इन लेखकों के बहुआयामी संघर्ष को समझा जा सकता है।

शिक्षा के लिए संघर्ष– किसी व्यक्ति या समाज के लिए शिक्षा का क्या महत्व है? शिक्षित होने और न होने से उनकी स्थितियों में किस तरह उन्नति या अवनति हो सकती है। इन सबका प्रमाणिक ब्यौरा अगर किसी को प्राप्त करना हो तो वह दलित समाज का अध्ययन कर सकता है। दलित समाज इस बात का गवाह है कि अशिक्षित होने की वजह से वह किस तरह सदियों तक दास बना रहा एवं शिक्षा के सम्पर्क में आने से कैसे–कैसे उसकी परिस्थितियां बदल रही है। दलितों को सदियों से शिक्षा से वंचित रखा गया था। यह अनायास नहीं था बल्कि सचेतन रूप से किया गया था। ब्राह्मणवादी व्यवस्था का उदय स्वामित्व के लिए हुआ था। "वैदिक काल में व्यवस्था का सैद्धान्तिक ढाँचा खड़ा हुआ तथा उत्तरवैदिक काल में व्यवस्था ने संस्थागत स्वरूप प्राप्त कर लिया। तब भूमि मानव, श्रम, पशु एवं युद्ध सामग्री ही मुख्य सम्पत्ति थे, इस तरह प्रकृति प्रदत्त सम्पदा एवम् मानव–श्रम पर स्वामित्व को लेकर ही ब्राह्मणवाद का जन्म हुआ।"[7] इस प्रक्रिया में आगे चलकर जब वर्णों का उदय हुआ एवं उनमें परस्पर सम्बन्ध जटिल होते गए तब शिक्षा पर भी कुछ खास वर्णों का स्वामित्व स्थापित हो गया। इतिहास गवाह है कि शूद्रों एवं दलितों को सदियों से शिक्षा से वंचित रखा गया। इसलिए यह अकारण नहीं है कि 19वीं सदी से पहले कुछ अपवादों को छोड़कर दलितों में किसी के पढ़े–लिखे होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। निर्गुणिये संतों का अशिक्षित होना हम सब जानते ही है! इन घटनाओं की रोशनी में जब हम इन आत्मकथाओं में वर्णित घटनाओं को देखते हैं, तब वे घटनाएँ अस्वाभाविक नहीं लगती। इन आत्मकथाकारों में से किसी को भी विद्यालय का माहौल बेहतर नहीं मिला है। सबको शिक्षा प्राप्ति के क्रम में विभिन्न दुर्घटनाओं का सामना करना पड़ा है। यद्यपि इन सभी आत्मकथाकारों के छात्र जीवन में लगभग 50 वर्षों का अंतर है। 'अछूत' के दया पवार 1935–40 के आस–पास स्कूल जाते है और अक्करमाशी के शरण कुमार लिंबाले 1970 के आस–पास फिर भी 'अछूत' से लेकर अक्करमाशी तक सबकी प्रारंभिक छात्र जीवन की परिस्थितियाँ लगभग एक सी है। सबको बचपन से ही स्कूल में उनकी जाति का अहसास करा दिया जाता है। कि वे नीच जाति के है, अस्पृश्य है उन्हें अलग बैठना है। पानी पीने के बर्तनों को नहीं छूना है। जो पहले से ही गरीबी एवं भुखमरी के शिकार है, उन्हें अस्पृश्यता का भी दंश झेलना पड़ता है। यह सब सचेतन रूप से करवाया जाता है। लगभग सभी आत्मकथाकारों को प्रतिकूल परिस्थितियों में विद्याध्ययन करना पड़ा है। सुबह बिना कुछ खाए–स्कूल जाना, मध्यांतर में इधर–उधर पेड़–पौधों से फल तोड़कर खाना या सहपाठियों द्वारा दिए गए रोटी के कुछ टुकड़ों से भूख मिटाने की कोशिश करना, स्कूल में अन्य लड़कों से अलग बैठना, गाँव के सहपाठियों द्वारा उन्हें जाति–सूचक नामों से चिढ़ाया जाना, पाठ्य–पुस्तकें न होने से शिक्षकों की फटकार सुनना, लगभग सबकी नियति है। ऐसे में जब वे ऊँची शिक्षा के लिए उन विद्यालयों में जाते हैं, जिनमें बोडिंग है एवं खाना मुफ्त दिया जाता है, तब उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता। यद्यपि वहाँ भी उन्हें भरपेट भोजन कम ही मिलता है, फिर भी उन्हें इस बात का संतोष है कि चलो कुछ तो नियमित रूप से मिलता है। इस खुशी का उल्लेख लगभग सभी आत्मकथाकारों ने किया है।

इन प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद ऐसा कुछ है जो इनको टूटने नहीं देता। इनको लगातार संघर्ष करने की प्रेरणा देता रहता है। इनकी उम्र के अन्य बच्चे जब पढ़ाई छोड़कर आजीविका के लिए अन्य कामों में लग जाते हैं, इसके बाद भी इनके जीवन में कोई न कोई व्यक्ति एक सम्बल के रूप में है जो इनको लगातार प्रेरणा देता रहता है। वह किसी की माँ है, किसी की बहन है तो किसी का ताऊ, पिता का अन्य कोई सम्बन्धी। 'अछूत' में दयापवार की माँ को महारवाड़ा का ही उमा दाया यह सलाह देता है कि – "सखू, लड़के को क्यों स्कूल भेजती हो? हम क्या ब्राह्मण है? गली–कूचे घूमेगा और दाना–पानी कमा लेगा। नहीं तो जायेगा ढोर चराने। चार पैसे लायेगा। तुम्हारे नोन–तेल की व्यवस्था हो जायेगी।माँ ने उमा दाया की सलाह नहीं मानी। बच्चे को पढ़ाना है, उसे बड़ा साहब बनाना है, यह प्रेरणा उन दिनों उसे किसने दी होगी?[8] बच्चे को पढ़ाने के प्रति ऐसा ही जज्बा 'पराया' के लेखक लक्ष्मण माने के पिता का भी है। एक बार लक्ष्मण की माँ गुस्से में आकर उनके पिता से कहती है– "तू लक्ष्या (लक्ष्मण) को मार डाल, जला डाल, तभी तुम्हें संतोष मिलेगा। ये क्या पढ़–लिखकर बड़ा अफसर बनेगा? लक्ष्मण के पिता गुस्से में आकर उनकी माँ की पिटाई करते हैं एवं कहते है– "गली का कुत्ता बनकर घूमने दे। मैं क्यों स्कूल में डालू? इसे क्या आवारागर्दी करने दूँ। उसे स्कूल में डालकर मास्टर बनाऊँगा। अफसर बनाऊँगा। वह पढ़ेगा तो परमेश्वर उसका भला करेगा।[9]

'उठाईगीर' के लक्ष्मण गायकवाड़ को भी पढ़ाने के लिए उनके बाबा ने कई परेशानियाँ उठाई है। उनकी जाति के अन्य लोग बच्चे को चोरी कराने की शिक्षा दिलाने में अधिक रुचि लेते थे। जबकि उनके पिता उन्हें पढ़ाने का दृढ़ निश्चय कर चुके थे। वे लिखते है– "यह सच है कि मेरा स्कूल जाना विरादरी में किसी को पसन्द नहीं था। वे बाबा से कहते 'मातई' लक्ष्मण को चोरी करनी सिखा, पढ़ाई करके हम क्या पाने वाले है। एक बार तो भाड़ गाँव के लोग चोरी सिखलाने हेतु पिताजी के पास

मुझे मांगने आए। कहने लगे 'मार्तड', लक्ष्मण को हमारे गिरोह में भिजवा दें, साल भर में उसे चोरी करने के काम में तैयार कर देंगे। तेरे घर में खुशियाँ लौटेगी। भरपूर कमाई हो जाएगी, पर मेरे बाबा ने पक्का तय कर लिया था कि लक्ष्मण को पढ़ाना ही है। बाबा इस मामले में किसी की भी सुनने को तैयार नहीं था। इसलिए मैं पढ़ सका। नहीं तो मैं आज 'चोर' रूप में ही मुँह छिपाकर जीता।"[10] ऐसे कई उदाहरण लगभग सभी आत्मकथाओं में भरे पड़े हैं। ये जीवन प्रसंग इन दलित लेखकों के शिक्षा के प्रति उनके रूझान को तो व्यक्त करते ही है, साथ ही, दलितों में समुचित शिक्षा का प्रचार–प्रसार न होने के कारणों का भी रेखांकित करते है। आज भी दलितों में अशिक्षा की मुख्य वजह उनका आजीविका के लिए अन्य माध्यमों की तरफ मुड़ जाना ही है। भारत सरकार द्वारा विभिन्न समयों पर इस सम्बन्ध में कराए जाने वाले सर्वेक्षण भी यही निष्कर्ष प्रस्तुत करते है कि दलितों में बीच में पढ़ाई छोड़ने की मुख्य वजह उनका रोजी–रोटी के लिए छोटे–मोटे रोजगारों की तरफ झुक जाना है। इन स्थितियों में हम अंदाजा लगा सकते हैं कि आज से 50, 60 वर्ष पहले दलित लेखकों को पढ़ने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ा होगा।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अधिकांश दलित साहित्यकार ब्राह्मणवाद की आलोचना करने के क्रम में उसके भौतिक आधारों की पहचान करना भूल जाते हैं उनकी नज़र में दलितों की दयनीय अवस्था, ईश्वर, हिन्दू धर्म, पूनर्जन्म, कर्मफल, मूर्तिपूजा अंधविश्वास आदि में विश्वास की वजह से है। लेकिन मुझे लगता है कि यह सब ब्राह्मणवादी आधार की अधिरचना है। ब्राह्मणवाद इन सब पर आश्रित नहीं है, बल्कि ये सब उस पर आश्रित है। ब्राह्मणवाद का आधार है– शिक्षा, शास्त्र एवं सम्पत्ति पर स्वामित्व। इन पर एकाधिकार। इनकी उपलबधता अनुपलब्धता ही किसी व्यक्ति या समाज की दयनीय अवस्था का कारण हो सकता है।

आत्मसम्मान एवं अस्मिता के लिए संघर्ष

भारतीय समाज की एक 'खासियत' है कि यहाँ किसी व्यक्ति का अस्तित्व उसकी जाति से निर्धारित होता है और जाति उसके जन्म से ही निर्धारित होती है। इस पर उस व्यक्ति विशेष का कोई वश नहीं है। कुछ जातियों में पैदा होने वाले जन्म से ही कुछ अतिरिक्त सम्मान के हकदार हो जाते हैं एवं कुछ जन्म से ही अपमान, उपेक्षा एवं तिरस्कार के। दलित जातियों में पैदा होने वाले इन आत्मकथाकारों को जन्म से ही अपमान, उपेक्षा, तिरस्कार आदि का हकदार होना पड़ा है।इस दुःखद स्थिति से जूझने का प्रयास ये आत्मकथाकार बराबर करते रहते हैं। ये आत्मसम्मान पाने की कोशिश लगातार करते रहते हैं। आत्म सम्मान पाने का इनका तरीका भले ही अलग–अलग है। फिर भी उनकी आकांक्षा यही है कि समाज उन्हें भी यथोचित सम्मान दे। इस प्रक्रिया में सबसे कारुणिक प्रयास 'यादों के पंक्षी' के लेखक प्र0 ई0 सोनकांबले का है। उनकी माँ उनके बचपन में ही मर गई थी। उन्होंने अपनी बहन के पास रहकर पढ़ाई की। इस दरम्यान उनका यह हमेशा प्रयास रहता था कि स्वयं फटेहाल रहकर भी दूसरों का अधिक से अधिक काम कर दें। इसलिए वे अपनी क्षमता से तीन–चार गुणा अधिक काम करते थे। किसी के खेतों में काम करना, जानवरों की देखभाल करना, या इसी तरह के शारीरिक श्रम वाले अन्य कई काम करते थे ताकि उन्हें लोग कामचोर न समझें। उन्हें यथोचित खाना और स्नेह दें। यही नहीं प्राध्यापक बनने के बाद भी जब वे गाँव जाते हैं तब कृतज्ञतावश गाँव के सवर्णों के यहाँ भी मिलने जाते हैं। फिर भी वे सवर्ण उनके साथ अच्छे ढंग से नहीं पेश आते। उनके साथ छुआछूत बरतते हैं।[11] 'अक्करमाशी' में भी आत्मसम्मान के लिए त्रासद, छटपटाहट मिलती है। लेखक शरण कुमार लिंबाले अपनी विडम्बनापूर्ण स्थिति से मर्माहत हो चीत्कार कर उठते हैं। "मेरी माँ अछूत तो पिता सवर्ण। माँ झोपड़ी में, पिता कोठी में। पिता जमींदार, माँ भूमिहीन। और मैं अक्करमाशी। गाँव, भाषा, माँ, पिता, जाति धर्म इन सभी दृष्टियों से मैं खंडित हूँ। गुमशुदा व्यक्तित्व लिए जीने वाला....... मेरे अस्तित्व को 'जारज' कहकर सतत् अपमानित किया गया है।"[12] यह अपमान का दंश उन्हें हमेशा परेशान किए रहता है। उनके लिए विडम्बनापूर्ण स्थिति पैदा करता रहता है।'जूठन' में भी ओमप्रकाश वाल्मीकि ने कई ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है जिसमें उन्हें दलित जाति का होने के कारण अपमान, तिरस्कार यहाँ तक कि पिटाई भी सहन करनी पड़ी है।[13] ये सभी आत्मकथाकार इन दुःखद स्थितियों से मुक्ति के लिए अलग–अलग स्तर पर प्रयास करते ही है। साथ ही, उन अपमानजनक घटनाओं को आत्मकथा के रूप में पूरे समाज के सामने लाकर घृणित मानसिकता रखने वाले जातिवादी लोगों को भी कटघरे में खड़ा करते है। उनमें अपराध बोध पैदा करते हैं। ये आत्मकथाकार उन्हें यह भी सोचने पर विवश करते है कि उनकी उपेक्षा एवं तिरस्कार किसी को, किस हद तक मर्माहत कर सकती है। उसे चोट पहुँचा सकती है।

भारतीय गाँवों की सही तस्वीर प्रस्तुत करना

हमारे बौद्धिक वर्ग में भारतीय गाँवों के प्रति एक खास तरह की खुशफहमी, एक आदर्शवादी धारणा पाई जाती है। भारतीय गाँव ऐसे होते हैं, भारतीय गाँव वैसे होते हैं। भारतीय गाँव ईश्वर की सुन्दर कृति हैं। भारतीय गाँवों में मानवीय संवेदनाएँ सुरक्षित रहती है। आपसी सम्बन्ध प्रगाढ़ होते है, आदि खुशफहमियाँ सुनने को मिलती रहती है। 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है' अथवा 'भारतमाता ग्रामवासिनी' आदि काव्य पंक्तियाँ भी

इसी धारणा को पुष्ट करती है। आज की उपभोक्तावादी संस्कृति ने भी इस धारणा को बल प्रदान किया है। भारतीय गाँवों के सम्बन्ध में एक आदर्शवादी धारणा हमारे मानस से विद्यमान कराई जाती है। लेकिन इन दलित आत्मकथाओं से गुजरते हुए यह अहसास होता है कि भारतीय गांवों के सम्बन्ध में हमारी यह समझ कितनी खोखली है। इन आत्मकथाकारों को गाँव का परिवेश बहुत ही कटू एवं मानवीय संवेदनाओं से रहित लगता है। जहाँ अस्पृश्यता, ऊँच–नीच आदि का अधिक वर्चस्व है। इसलिए इन लेखकों को गाँव की तुलना में शहर का माहौल अच्छा लगता है। लगभग सभी लेखक शहर के माहौल की प्रशंसा करते है। 'अछूत' के दयापवार, बचपन में गाँव के सहपाठियों द्वारा छुआछूत बरतने के कारण तालुके के सवर्ण लड़कों से दोस्ती जोड़ते हैं।[14] आगे बम्बई के बारे में वे लिखते हैं कि – "बम्बई भूलना वैसे भी संभव न था। यह शहर मुझे मुक्ति का शहर लगता।"[15] 'यादों के पंछी' के सोनकांबले कहते है– "परन्तु दीदी के गाँव में मराठी बोली जाती थी। गाँव का नाम था चेरा, जो अहमद पुर तालुके के निकट था। इस कारण वहाँ के लोगों के रहन–सहन, आचार–व्यवहार में मेरे अपने गाँव के लोगों की तुलना में काफी अंतर था। आयु के अनुसार बूढ़े अछूत को भी वहाँ आदर के साथ संबोधित किया जाता था।[16] पराया' के लक्ष्मण माने भी तालुके के स्कूल में कुछ नयापन महसूस करते है – "पर लड़के अच्छे लगते यहाँ, कोई कैकाड़ी भी औलाद, मैकाड़ी, हयकाड़ी इस तरह न चिढ़ाता। बस इतना ही संतोष था। तिरस्कृत व्यवहार की अपेक्षा स्कूल में अच्छा लगता।"[17] अपने अपने पिंजरे' के मोहनदास नैमिशराय भी बम्बई के बारे में लिखते है। "बम्बई में भूख थी, गरीबी थी और बेरोजगारी थी, लेकिन आदमी आदमी के बीच जातियों की दीवारें न थी। मुझसे कभी किसी ने मेरी जात न पूछी थी। मेरे शहर का नाम अवश्य पूछा था। पर मेरा धर्म न पूछा था। लोगों की जैसे यह सब पूछने की जरूरत ही न थी। पहली बार मुझे अच्छा लगा था।"[18] ये सभी उदाहरण भारतीय गाँवों के सम्बन्ध के स्थापित आदर्शवादी धारणा को ही खंडित करते है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या शहर दलितों को वह सभी सुविधाएँ मुहैया करा पाता है जिनसे वे गाँवों में वंचित रहते है। निःसन्देह शहर ऐसा नहीं करता। लेकिन शहर उन अपमानजनक स्थितियों से भी दलितों को भरसक बचाने का प्रयास करता है, जिनका अनुभव वे गाँवों में करते है। शहर सभ्यता का एक आवरण ओढ़े रखता है। यह आवरण शहर को प्रत्यक्ष रूप से असभ्य होने से बचाता है। शहरों में किसी को अपवादस्वरूप ही जातिगत कारणों से अपमानित होना पड़ सकता है। ऐसी बात नही है कि शहरों में असमानताएँ नही होती। असमानताएँ वहाँ भी होती है। लेकिन उनका स्तर गाँवों की तरह छिछला नहीं बल्कि सूक्ष्म एवं 'परिष्कृत' होता है। इसके अतिरिक्त शहरों में व्यक्तियों की व्यस्तताएँ इतनी अधिक होती है कि कोई दूसरों के मामले में कम ही दिलचस्पी ले पाता है। यहाँ संबंध बनते है तो अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को ध्यान में रखकर, जिसमें दूसरे की असुविधा से अपना हानि–लाभ भी जुड़ा रहता हैं। जबकि, गाँवों में कुछ निठल्ले जिनका स्वयं का काम कोई और करता है– अपना हुक्का–पानी लेकर दूसरों की टाँग खींचने में संलग्न मिल जाऐंगे। इसके अतिरिक्त, शहर रोजगार की सुविधाएँ भी मुहैया कराता है जोकि गाँवों में कम संभव होता है, इसलिए दलितों को शहर अच्छा लगता है, सारी विषमताओं के बावजूद।

दलित सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण में सहायक

अक्सर यह सवाल उठता है कि दलित साहित्य का अलग सौन्दर्यशास्त्र होना चाहिए। प्रस्थापित एवं पारंपरिक सौन्दर्य शास्त्र से इसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता या इसको नहीं समझा जा सकता। यह सवाल अधिकतर दलित साहित्यकारों द्वारा उठाया जाता है। दलित साहित्यकार, दलित साहित्य की गैर दलित आलोचकों द्वारा की गई आलोचना को इसी तर्क से नकारते है कि वे (गैर दलित आलोचक) प्रस्थापित सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टिकोण से दलित साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। इसलिए यह विचारणीय है कि दलित साहित्य के लिए अलग सौन्दर्य शास्त्र की जरूरत है या नहीं।

किसी साहित्य के निमित्त कोई सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमान कैसे गढ़े जाते है? कैसे व्यवहार में लाए जाते है? यह प्रश्न लंबी बहस की मांग करता है जो कि यहाँ संभव नहीं है। फिर भी संक्षेप में हम अपनी राय तो दे ही दे सकते हैं। हमें ऐसा लगता है कि सौन्दर्य शास्त्रीय प्रतिमान देश काल, वातावरण के साथ–साथ तत्कालीन बौद्धिक वर्ग की अभिरूचियों, उसकी इच्छा अनिच्छाओं को ध्यान में रखकर भी गढ़े जाते है। इन प्रतिमानों के निर्माण में अपने समय और समाज का गहरा दबाव तो रहता ही है साथ ही बौद्धिक वर्ग की मानसिकता एवं उसके परिवेश का भी अधिक दबाव रहता है। हालांकि यह दबाव हमेशा समानान्तर नही होता। अपने समय और समाज तथा बौद्धिक वर्ग की अभिरूचियों का एक सा दबाव प्रतिमानों के निर्माण में सहायक नहीं होता। क्योंकि, प्रतिमानों का नियंता अन्ततः बौद्धिक वर्ग होता है। यह बौद्धिक वर्ग अपने समय और समाज से किस हद तक जुड़ा है, प्रतिमानों के निर्माण में यह भी महत्व रखता है। यदि बौद्धिक वर्ग अपने समय और समाज से गहरे स्तर पर नहीं जुड़ा है तो उसके प्रतिमान भी अधूरे एवं एकांगी होंगे। जैसा कि भारतीय काव्य शास्त्र में 'आनन्द' बहुत दिनों तक एक प्रमुख प्रतिमान बना रहा। यह धारणा बनी रही कि जिस कलाकृति को पढ़कर ज्यादा आनंद की अनुभूति होगी,

वही उत्कृष्ट है। लेकिन यह प्रतिमान चंद बौद्धिकों की अभिरूचियों को तो अभिव्यक्त करता है, अपने समय और समाज की अभिरुचियों को कम ही व्यक्त कर पाता है। इस प्रतिमान से साहित्य के प्रति चन्द बौद्धिकों के नजरिए का अनुमान तो लगाया जा सकता है लेकिन युगीन यथार्थबोध को लक्षित नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय के अधिकांश लोगों का यही नज़रिया था। एक विशेष बौद्धिक वर्ग से अलग समाज के अन्य तबके का साहित्य के प्रति अलग दृष्टिकोण भी हो सकता है। इसलिए जैसे–जैसे समय और समाज का दबाव साहित्य पर पड़ता है या साहित्य से अन्य साहित्येत्तर अपेक्षाएँ जुड़ती है, बौद्धिक वर्ग का अपने समय और समाज से जुड़ाव गहरा होता है, वैसे – वैसे प्रस्थापित सौन्दर्य शास्त्रीय प्रतिमानों की आलोचनात्मक पड़ताल एवं नए प्रतिमानों के निर्माण की प्रक्रिया भी आरंभ होती है। स्वाधीनता आंदोलन के समय 'साहित्य को जनसमूह के हृदय का विकास कहा गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लोकमंगल एवं लोकधर्म जैसे नए प्रतिमान गढ़े। विश्व–परिदृश्य पर साम्यवादी आंदोलनों के उभार के साथ शोषितों मज़दूरों को ध्यान में रखते हुए प्रतिमान गढ़े गए। इन प्रतिमानों की प्रासंगिकता बनाए रखने के लिए उनके अनुकूल समय और समाज से उद्धरण भी लिए गए। यह सब उस समय के बौद्धिक वर्ग के द्वारा अपने समय और समाज से जुड़ने के महत्व को दर्शाता है।इन प्रतिमानों की निर्मित्ति में अपने समय और समाज के उस सच को भी स्वीकार किया गया, जिसका अस्तित्व तो था लेकिन वह विमर्श से लगभग बाहर था। आशय कि हमारे सामने जैसे–जैसे सच उजागर होते जाता हैं, तो नए प्रतिमानों की जरूरत भी महसूस होती है। दलित आत्मकथाओं ने भी अब तक के लगभग उपेक्षित सच को विमर्श में लाने का काम किया है, जो नए प्रतिमानों के जरूरत की मांग करता है।दलित आत्मकथाएँ जिस दलित समाज का परिचय, अपनी भाषा संस्कृति, रहन–सहन एवं दयनीय स्थिति के साथ– समाज के तथाकथित मुख्यधारा से करा रही है, वह सब भी यह संकेतित करता है कि उसकी अपनी वास्तविकताओं के स्वीकार के साथ ही प्रतिमान गढ़े जाएं। दलित समाज का परिवेश, उसके दैनिक जीवन को प्रभावित करने वाले तत्व, गैर दलित समाज का उसके प्रति किया गया संवाद आदि को ध्यान में रखकर ही प्रतिमान गढ़े जाएँ। आशय कि गालियाँ यदि दलितों के दैनिक जीवन का अंग है तो साहित्य में उसकी उपस्थिति से भी इन्कार नहीं किया जा सकता, नाक–भौं नहीं सिकोड़ा जा सकता। यदि दलितों की जिन्दगी का अधिकांश हिस्सा दुःख तकलीफ में बीतता हैं तो उसके लिए आनंद या हास्य के प्रतिमान नहीं बनाए जा सकते।इसलिए दलित आत्मकथाओं द्वारा उद्घाटित सत्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्थापित सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमानों की पड़ताल एवं नए प्रतिमानों की निर्मित्त हो सकती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1.जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997 भूमिका से 2.अक्करमाशी की जन्मपत्री–शरण कुमार लिंबाले हंस मार्च 1994, पृष्ठ–36 3. दलित आत्मवृत सामाजिक व्यथा के दस्तावेजः –प्रभाकर नारायण परांजये, संचेतना, दिस0 1981 पृष्ठ–46 4. उठाईगीर लक्ष्मण गायकवाड – (अनु0 सूर्य नारायण रणसुभे) साहित्य अकादमी, नई दिल्ली–1992 5. अछूत दया पवार, – (अनु. दामोदर खडसे)राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, (पेपर बैक्स) 1998 6. पराया लक्ष्मण माने, – (अनु. दामोदर खडसे) साहित्य अकादमी, नई दिल्ली– 1997 7. विश्वास घात चन्द्रभान प्रसाद, – (अनु. दिनेश 'राम') डी0 एस0 ए0 प्रकाशन, नई दिल्ली– 1996 पृष्ठ–234 8. अछूत दया पवार, – (अनु. दामोदर खडसे) राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, (पेपर बैक्स) 1998 पृष्ठ–54 9. पराया लक्ष्मण माने, – (अनु. दामोदर खडसे) साहित्य अकादमी, नई दिल्ली– 1997 पृष्ठ–4 10. उठाईगीर लक्ष्मण गायकवाड – (अनु0 सूर्य नारायण रणसुभे) साहित्य अकादमी, नई दिल्ली–1992 पृष्ठ–32 11.यादों के पंक्षी; प्र. ई. सोन कांबले – (अनु. सूर्यनारायण रणसुभे) राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,1983 12. अक्करमाशी; शरण कुमार लिंबाले (अनु0 सूर्यनारायण रणसुभे) ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली– 1991 पृष्ठ–7 13. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997 14. अछूत–दया पवार, – (अनु. दामोदर खडसे) राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, (पेपर बैक्स) 1998 पृष्ठ–74 15. अछूत दया पवार, – (अनु. दामोदर खडसे) राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, (पेपर बैक्स) 1998 पृष्ठ–112 16..यादों के पंक्षी; प्र. ई. सोन कांबले – (अनु. सूर्यनारायण रणसुभे) राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,1983 पृष्ठ–10 17. पराया लक्ष्मण माने, – (अनु. दामोदर खडसे) साहित्य अकादमी, नई दिल्ली– 1997 प भठ–67 18. अपने अपने पिंजरे ;मोहनदास नैमिशराय– वाणी प्रकाशन, नईदिल्ली– 1996 प भठ–136